शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Vol. X, No. 1, pp (255-262), Jan-March 2019

उत्तराखण्ड आन्दोलन : ऐतिहासिक सामाजिक संदर्भ

डॉ0 जी0 सी0 पाण्डे
समाजशास्त्र विभाग,
के0जी0के0 कॉलेज, मुरादाबाद
gcpmbd@gmail.com

सारांश

उत्तराखण्ड क्षेत्र देवभूमि के नाम से जाना जाता रहा है जो वर्तमान में कुमाऊँ और गढ़वाल मण्डलों में विभक्त है। उत्तराखण्ड क्षेत्र के प्रारम्भिक शासकों के रुप में कत्यूरी शासकों को जाना जाता है। 1815 ई0 में यहाँ ब्रिटिश शासन प्रारम्भ हुआ। 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में इस क्षेत्र में पहला कृषक आन्दोलन कुली बेगार जबरन श्रम के विरुद्ध हुआ। 1865 से 1930 तक ब्रिटिश शासन द्वारा वनों पर नियन्त्रण से स्थानीय जन व वन के बीच अलगाव के कारण आन्दोलन चलते रहे। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद वन नीति व औद्योगीकरण से उत्पन्न समस्याओं व पारिस्थितिकीय असन्तुलन के कारण चिपको आन्दोलन, विकास की आकांक्षाये पूर्ण न होने से नशा विरोधी, खनन विरोधी, बाँध विरोधी आन्दोलनों ने जन चेतना को प्रबल किया। मण्डल कमीशन की संस्तुति से उत्तराखण्ड आन्दोलन ने तीव्र गति पकड़ी जिसमें सामुदायिक स्वामित्व सम्पदा व वन सम्पदा व वन अलगाव, प्रवास की समस्या, सांस्कृतिक पहचान, विकास एवं पारिस्थितिक असंतुलन मुख्य मुद्दे थे। यह शोधपत्र उत्तराखण्ड आन्दोलन का ऐतिहासिक संदर्भ में विवेचन का प्रयास है।

मुख्य शब्द *– सामाजिक सरंचना, आन्दोलन, प्रवास, अलगाव, सांस्कृतिक पहचान, विकास, पारिस्थितिकी असंतुलन*

प्रस्तावना

उत्तराखण्ड क्षेत्र देवभूमि के रूप में जाना जाता रहा है। इस क्षेत्र का एक बड़ा भू–भाग वनों से आच्छादित है और अपनी जैव विविधता प्राकृतिक संसाधनों एवं प्राकृतिक सौंदर्य के लिये प्रसिद्ध है। वर्तमान उत्तराखण्ड राज्य के दो मण्डलों कुमाऊं व गढ़वाल में कुल 13 जिले है । कुमाऊं मण्डल में अल्मोड़ा, पिथौरागढ़, नैनीताल, बागेश्वर, चम्पावत, उधमसिंह नगर जिले तथा गढ़वाल मण्डल में उत्तरकाशी, चमोली, पौड़ी, टिहरी, रूद्रप्रयाग, देहरादून तथा हरिद्वार जिला है। भौगोलिक रूप से इस क्षेत्र को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है–(1) वृहद् हिमालय क्षेत्र (2) मध्य हिमालय क्षेत्र (3) षिवालिक क्षेत्र (4) भाभर, (5) तराई । पारिस्थितिकीय दृष्टि से यह क्षेत्र अत्यन्त संवेदनशील है।

उत्तराखण्ड क्षेत्र के राजनैतिक इतिहास के बारे में उपलब्ध प्रमाणिक साक्ष्यों (ताम्र पत्रों/शिलालेखों आदि) से प्रारम्भिक शासकों के रूप में कत्यूरी शासकों का ज्ञान होता है, जिन्होंने पूर्वाद्ध में अलकनन्दाघाटी में जोशीमठ तथा उत्तरार्द्ध में अल्मोड़ा जिले की कत्यूर घाटी से अपना शासन किया (जोशी 1929)। कत्यूर वंश के केन्द्रीय शासन की अवनति के बाद यह क्षेत्र अनेक छोटे राज्यों में बँट गया। एटकिंसन के अनुसार 960 ई० में कुमाऊं क्षेत्र में राजस्थान मूल के चंद शासकों ने अपना शासन स्थापित किया (एटकिंसन 1973)। यह क्षेत्र अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के कारण मुगलकाल में अनेक रूहेला आक्रमणों के उपरान्त भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखने में सफल रहा। 1790 में कुमाऊं क्षेत्र नेपाल के गोरखा शासन के अधीन आया जबकि गढ़वाल 1804 ई० में गोरखाओं द्वारा अपने राज्य में शामिल किया गया। यद्यपि गोरखा शासन (1790–1815) अल्पकालिक रहा, किन्तु निरंकुशता, नृशंसतम अत्याचार तथा शोषण के लिये जाना जाता है । 1815 में आंग्ल गोरखा युद्ध के उपरान्त हुई सिगौली की संधि के पश्चात कुमाऊं व पूर्वी गढ़वाल ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन आ गया जबकि उत्तर पश्चिमी गढ़वाल का कुछ भाग जिसे टिहरी रियासत के रूप में जाना जाता था कम्पनी द्वारा पंवार वंश के उत्तराधिकारी को सौंप दिया गया। यद्यपि कुमाऊं क्षेत्र 1815 ई० से ब्रिटिश कब्जे में था परन्तु इसका औपचारिक विलय अवध प्रांत में 1856 में किया गया। वास्तव में कुमाऊं क्षेत्र ब्रिटिश शासकों के लिये व्यापारिक एवं सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि तिब्बत, चीन व नैपाल की सीमायें इस क्षेत्र से लगी हुई थी । ब्रिटिष काल में भूमि बन्दोबस्त तथा वन नीतियां एवं अधिनियम ब्रिटिश व्यापारिक हितों की रक्षा को दृष्टिगत रखते हुये बनाये गये थे।

उत्तराखण्ड की जनसंख्या का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों में रहता है और उनका प्रमुख व्यवसाय कृषि और बागबानी है। यहां की अर्थव्यवस्था जीवनयापन अभिमुखी है तथा कृषि उत्पाद मात्र छः माह के जीवनयापन के लिये भी पर्याप्त नहीं है। स्थानीय कृषक जंगलों पर ईंधन, चारा, भोजन, लकड़ी औषधियों के लिये निर्भर है । यही कारण है कि यहाँ का युवा रोजगार की तलाश में मैदानी क्षेत्रों को पलायन करता है (पंत 1935)। फलतः अधिकांश कृषि कार्य (जुताई छोड़कर) महिलाओं द्वारा किया जाता है। यहां की महिलाएं घरेलू व कृषि कार्य के अतिरिक्त,जंगलों से चारा,लकड़ी व भोजन एकत्र करने तथा पेयजल आपूर्ति के लिये प्रतिदिन 5 से 6 घंटा पहाड़ी क्षेत्रों में यात्रा करती है (पांडे 1993)।

स्वतन्त्रता पूर्व के विरोध आन्दोलन

19वीं शताब्दी के आरम्भ से ही इस क्षेत्र में विभिन्न विरोध आन्दोलन ब्रिटिश भूमि व्यवस्था एवं वन नीतियों के विरूद्ध होते रहे। ब्रिटिश कुमाऊँ में पहला कृषक आन्दोलन कुलीबेगार जबरन श्रम के विरूद्ध प्रारम्भ हुआ। औपनिवेशिक काल में यह व्यवस्था विभिन्न नामों, कुलीउतार, बरदायश, बेगार, गोदाम से जानी जाती थी । 1840 के आसपास बेगार को नियमबद्ध किया जाने लगा। बेगारकुली अथवा उतार के प्रावधानों के अनुसार स्थानीय निवासियों/कृषकों को अपनी सेवाएं/श्रम ब्रिटिश अधिकारियों को उनके प्रशासनिक यात्रा/ भ्रमण के समय देनी होती थी जिसका कोई मूल्य नहीं मिलता था । 19वीं शदी के अन्त तक कुलीबेगार आन्दोलन

की धाराएं जन्म लेने लगी तथा 1913 के बाद इस आन्दोलन ने सफलता पाई (पाठक 1980)। औपनिवेशिक शासनकाल में वनों के व्यापारिक उपयोग हेतु ग्रामीणों के परम्परागत वन अधिकारों व बंजर भूमि प्रयोग पर लगाये गये प्रतिबन्धों के परिणामस्वरूप अनेक आन्दोलन हुए। 1817 में कुमाऊं के तत्कालीन कमिश्नर मि० ट्रेल ने अपने पत्र में लिखा कि समस्त कुमाऊं की भूमि ब्रिटिश सम्प्रभुता के अधीन है (तिवारी 1923)। 1828, में लार्ड विलियम ने टी कमेटी का गठन किया। चाय बागानों के लिये ब्रिटिश उद्योगपतियों को भूमि उपलब्ध कराने के उद्देश्य से 1837 का एक्ट पारित किया गया जिससे वन तथा भूमि पर स्थानीय निवासियों के परम्परागत अधिकारों को सीमित किया गया । 1852–53 में चाय बागान लगाने के लिये बेकार भूमि ब्रिटिश उद्योगपतियों को उपलब्ध कराने के लिये प्राविधान निर्मित किये गये। भारतीय वानिकी के इतिहास में रेलवे नेटवर्क का विस्तार एक महत्वपूर्ण तथा निर्णायक कदम था । रेलवे विस्तार की प्रक्रिया में साल, देवदार, सागौन के स्लीपर की आपूर्ति को दृष्टिगत रखते हुये 1864 में एक जर्मन विशेषज्ञ की मदद से वन विभाग की स्थापना की गयी (गुहा 1989) और 1865 तथा 1878 के वन अधिनियम पारित किये गये जिनके अन्तर्गत ग्रामीण/ कृषकों के वन व बंजर भूमि के उपयोग के पारम्परिक अधिकारों को सीमित किया गया तथा 1893 के तत्कालीन ब्रिटिश शासन ने समस्त बंजर/बेकार भूमि को सुरक्षित वन क्षेत्र घोषित कर कलेक्टर के अधीन कर दिया। 1894 मेंदेवदार, चीड़, साल, शीशम, तुन खेर को संरक्षित वृक्ष घोषित किया गया जबकि 1903 में वनों का विभाजन मुक्त तथा बंद सिविल वनों के रूप में किया गया । मुक्त सिविल वनों में कुछ सीमित अधिकार स्थानीय लोगों को दिये गये । 1911 में पुनः वनों का विभाजन तीन श्रेणियों में कर क्रमशः अ तथा ब श्रेणी वन विभाग के अधीन कर दी गयी तथा श्रेणी स स्थानीय लोगों के उपयोग के लिये नियत की गयी। 1865 से ब्रिटिश शासन द्वारा वनों पर नियन्त्रण ने स्थानीय जन व वन के बीच अलगाव उत्पन्न किया। स्थानीय निवासियों तथा वन अधिकारियों के बीच भी सम्बन्ध द्वन्दात्मक हो गये। 1911 से 1917 के बीच कुमाऊं के वनों को आरक्षित बनाने के विरूद्ध हिंसक और सतत् विरोध हुए (स्टेविंग 1926)। वन विभाग के विरूद्ध असंतोष का एक और महत्वपूर्ण कारण था, वन विभाग के अधिकारियों के संरक्षण व निरीक्षण के दौरों की संख्या का बढ़ना जिसमें उतार ली जाती थी। 1911–17 के बीच नयी संरक्षण नीतियों जिससे आरक्षित व संरक्षित वन क्षेत्र घोषित किये गये थे ने स्थानीय लोगों के मन में आक्रोष पैदा किया जिसके परिणामस्वरूप 1921 का व्यापक जनान्दोलन हुआ जिसमें पहले उतार/कुली बेगार के विरूद्ध व्यापक हड़ताल की गई फलतः सम्पूर्ण प्रशासनिक ढांचा पूरी तरह चरमरा गया और बाद में योजनाबद्ध तरीके से चीड़ के जंगलों में आग लगा दी गई (स्मायथिस 1925)। इन जन आन्दोलनों को कुमाऊं परिषद का सहयोग भी प्राप्त हुआ (पांडे 1990)।

1921 के आन्दोलन के परिणामस्वरूप कुमाऊं वन कष्ट समिति का गठन तत्कालीन ब्रिटिश शासन ने किया। समिति की सिफारिशों को 1927 के वन अधिनियम में शामिल कर लिया गया जिसके अनुसार श्रेणी–एक के वनों से फारेस्ट गार्डस (वन सुरक्षा कर्मी) हटा लिये गये तथा इन्हें राजस्व विभाग के अधीन कर दिया गया । श्रेणी–2 के व्यावसायिक महत्व के आरक्षित वनों

को वन विभाग के अधीन कर दिया गया।

कृषकों द्वारा वनों के उपयोग पर उनके पारम्परिक अधिकारों को समाप्त किये जाने के विरूद्ध जनआन्दोलन ब्रिटिश कुमाऊं तक ही सीमित न रहे अपितु टिहरी रियासत में भी इसके विरूद्ध विभिन्न धंधक आयोजित किये गये । 1930 में रवाई में आयोजित धंधक में टिहरी रियासत के दीवान ने निहत्थे कृषकों पर गोली चलवाई। बाद में यह आन्दोलन निकटवर्ती क्षेत्रों में फैल गया और तिलाड़ी में एक आजाद पंचायत बुलायी गई जो कि टिहरी राजतन्त्र को खुली चुनौती थी । तिलाड़ी आन्दोलन को कुचलने के आदेश रियासत के दीवान ने दिये जिसमें अनेक कृषकों की मौत हो गई (गुहा 1989)।

स्वातन्त्रेत्तर काल में विरोध आन्दोलन

स्वतन्त्र भारत की वन नीति औद्योगीकरण की तीव्रगति को दृष्टि में रखकर बनायी गई। 1962 में भारत–चीन युद्ध के उपरान्त इस क्षेत्र के सामरिक महत्व को दृष्टिगत रखते हुये पूरे क्षेत्र में सड़कों का जाल बिछाया गया जिसके दौरान पहाड़ों के पारिस्थितिकी सन्तुलन को अपूर्णीय क्षति हुई । संचार सुविधाओं ने प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की गति को और तीव्रता प्रदान की। व्यावसायिक वानिकी में औद्योगिक मांग की पूर्ति के लिये व्यावसायिक उपयोग के वृक्षों का ही रोपण किया गया। बॉझ के जंगलों को नष्ट करके चीड़ के जंगलों को प्राथमिकता दी गयी फलतः इस क्षेत्र की जैव विविधता को भी क्षति पहुंची। पारिस्थितिकी असन्तुलन भी पैदा हुआ तथा कृषि उत्पादकता भी कम हुई । वनों के ठेके भी मैदानी क्षेत्र के लोगों को दिये गये जिन्होंने स्थानीय श्रमिकों के स्थान पर सस्ते मैदानी श्रमिकों को काम दिया। मैदानी क्षेत्र के आप्रवासी श्रमिकों व अन्य वर्गों में स्थानीय संस्कृति के प्रति संवेदनहीनता ने स्थानीय लोगों में अलगाव उत्पन्न किया । रोजगार न मिलने व कृषि उत्पादकता के घटने से, युवा वर्ग ने यहाँ से मैदानी क्षेत्रों की ओर रोजगार की तलाश में पलायन किया जिसका सबसे बुरा प्रभाव महिलाओं पर पड़ा, जिनके कंधों पर घर के साथ–साथ खेती का बोझ भी आ गया । पहाड़ की अर्थव्यवस्था मनीआर्डर अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गई । वनों के विनाश व पारिस्थितिकी असन्तुलन के परिणामस्वरूप 1970 में गढ़वाल की अलकनन्दा घाटी में बाढ़ आयी और जन, जानवर व सम्पत्ति का भारी विनाश हुआ। 1970 के दषक में स्थानीय सर्वोदयी नेताओं ने चिपको आन्दोलन चलाया। चिपको आन्दोलन के मूल में आर्थिक कारक थे। स्थानीय लोग प्राकृतिक संसाधनों पर नियन्त्रण चाहते थे। स्थानीय लोगों के लिए मैदानी क्षेत्रों के लोगों को जंगल के ठेके देना, कृषकों के जंगल पर पारम्परिक अधिकारों को बहाल न करना, जंगलों में कार्यरत श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी न देना तथा स्थानीय लघु औद्योगिक इकाइयों को रियायती मूल्य पर कच्चा माल उपलब्ध न कराना आदि प्रमुख मुद्दे थे। स्थानीय लोगों के लिये पर्यावरण संरक्षण से अधिक यह प्रश्न आर्थिक अस्तित्व का था (कृष्णा 1996)।

उत्तराखण्ड आन्दोलन का उद्विकास

उत्तराखण्ड क्षेत्र (तत्कालीन ब्रिटिश कुमाऊ) को राजनीतिक स्वायतता की मांग सन् 1923 में तब अंकुरित हुई जब कुमाऊं के लोगों का एक प्रतिनिधि मण्डल यूनाइटेड प्राविंस के

तत्कालीन ले० गवर्नर से मिला तथा एक मांग पत्र दिया जिसमें इस बात की याद दिलायी गई कि कुमाऊं हमेशा से एक स्वतन्त्र राजनैतिक इकाई रहा है (झा 2000)। 1931 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के करांची अधिवेशन में भी राज्यों के भाषायी एवं भौगोलिक संरचना के आधार पर पुनर्गठन की मांग उठी । द्वितीय गोल मेज सम्मेलन तथा केबिनेट मिशन के भारत आगमन के समय स्वतन्त्र उत्तराखण्ड की मांग उठी (पांडे 1990)। 6 मई 1938 में श्रीनगर (गढ़वाल) में आयोजित कांग्रेस की विशेष सभा में उत्तराखण्ड के ऐसे विकास की आवश्यकता को पण्डित नेहरू ने स्वीकार किया जिससे इस क्षेत्र में समुचित विकास के साथ–साथ इसकी विशिष्ट सांस्कृतिक विरासत व विशिष्ट परम्पराओं को सुरक्षित एवं जीवित रखा जा सके (विष्ट 1997)। 1950 के दशक में कम्यूनिस्ट नेता पी.सी.जोशी, मानवेन्द्रशाह तथा प्रतापसिंह नेगी ने भी इस तरह की मांग की थी। 1953, में राज्य पुर्नगठन आयोग के समक्ष भी यह मांग रखी गयी तथा आयोग के सदस्य सरदार के.एम.पन्निकर ने इसका समर्थन भी किया (पांडे 1990), किन्तु आयोग के अध्यक्ष फजल अली तथा दूसरे सदस्य एच.एन.कुजरु ने इसके विपरीत मत देकर मांग अस्वीकृत कर दी । 1966 में तत्कालीन सत्ताधारी कांग्रेस दल द्वारा रामनगर में आयोजित कुमाऊं गढ़वाल के विशेष राजनीतिक अधिवेशन में पूर्व मुख्यमंत्री सी.बी.गुप्त तथा तत्कालीन मुख्यमंत्री सुचेता कृपलानी द्वारा भी एक अलग पर्वतीय राज्य के प्रस्ताव के प्रति सहमति व्यक्त की गयी। उनका मत था कि भौगालिक विशिष्टता तथा पिछड़ी अर्थव्यवस्था के कारण पहाड़ी जनपदों को प्रषासकीय दृष्टिकोण से एक पृथक राजनीतिक इकाई का दर्जा दिया जाना चाहिए (विष्ट 1997)।

स्वातन्त्रेत्तर काल में स्थानीय लोगों की विकास की आकाक्षांऐ पूरी न हो सकने के परिणाम स्वरूप यह आम धारणा बन गई कि लखनऊ में बैठी सरकार उनकी समस्याओं व विकास की आकांक्षाओं के प्रति संवेदनहीन है और उनकी समस्याओं का हल उनके पास नहीं है। यह चेतना नशा विरोधी आन्दोलन, चिपको आन्दोलन, खनन विरोधी आन्दोलन, बांध विरोधी आन्दोलन आदि से और प्रबल हुई। 1970 के दशक में वामपंथी विचारधारा के उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी ने इन आन्दोलनों को और उग्रता प्रदान की । 1984 में उत्तराखण्ड में 'नशा नहीं रोजगार दो' आन्दोलन चला। उत्तराखण्ड संघर्श वाहिनी ने व्यावसायिक वानिकी, वन कटान, खनन तथा शराब विरोधी आन्दोलनों के माध्यम से स्थानीय लोगों में जागृति पैदा की । 1980 के दशक में सरकार ने पर्यावरण संरक्षण के उत्साह को जनमत मानते हुए वन संरक्षण अधिनियम 1980 पारित कर दिया जिससे पुनः स्थानीय लोगों के जंगलों पर पारम्परिक अधिकार एवं उपयोग पर प्रतिबंध लगा दिया । 1989 के केन्द्र व राज्य (संसद व विधानसभा) चुनावों में स्वायतता, प्राकृतिक संसाधनों पर स्थानीय लोगों के अधिकार के मुद्दे प्रमुखता से उठे। 1990 के दशक में उत्तराखण्ड क्रान्ति दल ने पर्यावरण आन्दोलनों की पारिस्थितिकीय अर्न्तवस्तु को पृथक राज्य की मांग में परिवर्तित कर दिया (लिकेन 1998)। इस प्रकार चिपको आन्दोलन के उद्भव से जुड़े सामाजिक आर्थिक मुद्दे उत्तराखण्ड आन्दोलन में रूपान्तरित हो गये।

1994 में मण्डल कमीशन की संस्तुति के आधार पर उ० प्र० में अन्य पिछड़े वर्गों के लिये 27 प्रतिशत आरक्षण लागू किये जाने पर उत्तराखण्ड आन्दोलन ने तीव्र गति पकड़ी। इस क्षेत्र के लोगों का मानना था कि उत्तराखण्ड में अन्य पिछड़े वर्ग की कुल जनसंख्या 2 से 3 प्रतिशत है इसलिये इस वर्ग को आरक्षण जनसंख्या के अनुपात में मिलना चाहिये । इस प्रकार आरक्षण विरोधी उत्तराखण्ड आन्दोलन के तात्कालिक कारणों में था जबकि इसके मूल में इस क्षेत्र की उपेक्षा एक बड़ा कारण था।

1991 में भाजपा ने उत्तराखण्ड की भविष्य की राजनीति में अपना स्थान सुरक्षित रखने के लिये स्वतन्त्र उत्तराखण्ड की मांग को समर्थन दे दिया। 2 अक्टूबर 1994, को पृथक राज्य की मांग के लिये दिल्ली रैली में भाग लेने जा रहे आन्दोलनकारियों के साथ तत्कालीन उ०प्र० सरकार ने मुजफ्फरनगर में बर्बरतापूर्ण कार्यवाही की जिसमें पुलिसकर्मियों ने महिलाओं व लड़कियों के साथ सामूहिक बलात्कार किया तथा विरोध करने वाले आन्दोलनकारियों को गोली मार दी । अगस्त 1994 में उत्तराखण्ड संघर्श वाहिनी का गठन किया गया जिसने पूरे क्षेत्र में धरना प्रदर्शन आयोजित किये परिणामतः स्थानीय प्रशासन पूर्णतया असफल हो गया। 7 दिसम्बर को बी० सी० खण्डूरी के नेतृत्व में उत्तरांचल प्रदेश संघर्ष समिति की दिल्ली में रैली हुई। पूरे क्षेत्र में रेलियाँ व प्रदर्शन धरना जारी रहे जिनमें महिलाओं की भागीदारी काफी अधिक थी । परिणामस्वरूप 1996 के विधान सभा चुनावों तथा 1998 के लोकसभा चुनावों के उत्तराखण्ड क्रान्ति दल के बहिष्कार के आहवान का कोई असर नहीं हुआ और इस क्षेत्र से भाजपा के अधिकांश प्रत्याशी जीत गये । 9 नवम्बर 2000 को उत्तरांचल का विधिवत् गठन हो गया।

उत्तराखण्ड आन्दोलन के प्रमुख मुद्दे

उत्तराखण्ड आन्दोलन की प्रकृति एवं उद्विकास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र की जनता द्वारा पृथक उत्तराखण्ड राज्य की माँग चार प्रमुख मुद्दों पर केन्द्रित थी। सामुदायिक स्वामित्व सम्पदा तथा वन अलगाव, प्रवास एवं आप्रवास की समस्या, सांस्कृतिक पहचान, विकास एवं पारिस्थितिकीय असन्तुलन ।

1. सामुदायिक स्वामित्व सम्पदा तथा वन अलगाव

ब्रिटिश शासनकाल से ही विभिन्न वन अधिनियमों द्वारा स्थानीय लोगों को जंगल बेकार भूमि तथा अन्य सामुदायिक स्वामित्व सम्पदा पर उनके पारम्परिक अधिकारों से वंचित किया गया जो स्वतन्त्रोत्तर काल में भी जारी रहा। परिणामस्वरूप जन व वन के बीच अलगाव उत्पन्न हुआ। उसके विरोध में अनेक कृषक आन्दोलन हुए। चिपको व्यावसायिक/वाणिज्य वानिकी, राज्य के वनों पर नियन्त्रण तथा वनों के कटान के विरूद्ध इस श्रृंखला, का अन्तिम आन्दोलन था। यह आन्दोलन स्थानीय लोगों के जल, जंगल व जमीन पर पारम्परिक अधिकारों से जुड़ा था। जंगल स्थानीय लोगों के लिये एक अमूर्त संबोध नहीं है अपितु ये वास्तविक जंगल है (कृष्णा 1996)।

प्रवास एवं अप्रवास

उत्तराखण्ड क्षेत्र में कम कृषि उत्पादकता तथा रोजगार के साधनों के अभाव में युवाओं ने मैदानी क्षेत्रों की ओर पलायन किया। अधिकांश युवाओं ने सेना, पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों, शिक्षा

तथा अन्य सरकारी अर्द्धसरकारी व गैरसरकारी क्षेत्रों में रोजगार के साधन तलाशने प्रारम्भ किये। परिणामस्वरूप यह क्षेत्र अपनी युवाशक्ति के अभाव में विकास की सम्भावनाओं से दूर होने लगा। पहाड़ों में स्त्रियाँ, बच्चे, वृद्ध तथा सेवानिवृत्त पुरुष ही रह गये। कुछ अर्थशास्त्रियों ने इसे मनीआर्डर अर्थव्यवस्था भी कहा । युवाओं के मैदानी क्षेत्रों की ओर पलायन से कृषि का बोझ भी महिलाओं के कंधों पर आ गया यही कारण था कि महिलाओं की उत्तराखण्ड आन्दोलन में सहभागिता काफी अधिक थी।

(3) सांस्कृतिक क्षेत्रीय पहचान

उत्तराखण्ड क्षेत्र कुमाऊँ, गढ़वाल, जौनसर बाबर व तराई के भिन्न–भिन्न भाषायी भौगोलिक व सांस्कृतिक क्षेत्रों में बंटा हुआ है और इसकी कोई एक भाषायी अथवा नृजातीय पहचान नहीं है किन्तु इस क्षेत्र की विकास की अस्तित्ववादी आवश्यकताओं ने इसके भाषायी व सांस्कृतिक पहचान के अभाव को नेपथ्य में डाल दिया (कुमार 2001)। आर्थिक विकास के मुद्दों ने भाषायी सांस्कृतिक पहचान के भावनात्मक पक्ष को ढक दिया । 1994 में पिछड़े वर्गों को 27 प्रतिशत आरक्षण दिये जाने के फलस्वरूप सवर्ण बहुल इस क्षेत्र में स्थानीय युवाओं के लिये संकुचित रोजगार की सम्भावनाओं और उनमें उपजी असुरक्षा की भावना के परिणामस्वरूप क्षेत्रीय पहचान अंकुरित होने लगी । तत्कालीन उ० प्र० सरकार द्वारा उपेक्षित और अपमानित हुए आन्दोलनकारियों ने क्षेत्रीय पहचान को प्रबल किया। दशकों से सामाजिक–आर्थिक उपेक्षा के साथ–साथ लखनऊ से दूरी के कारण प्रशासनिक उपेक्षा ने भी क्षेत्रीय भावना तथा पहचान को पुर्नबलित किया । सामाजिक आर्थिक क्षेत्रों में सापेक्षिक वंचना तथा पिछड़ापन भी क्षेत्रीय पहचान को उभारने में सहायक सिद्ध हुआ । उत्तराखण्ड क्षेत्र में प्रमुख मुद्दा अस्तित्व का था न कि वैचारिकी का (कुमार 2001)।

(4) विकास और पारिस्थितिकीय ह्रास

उत्तराखण्ड क्षेत्र में वर्तमान पारिस्थितिकीय संकट/हास का लम्बा इतिहास है। इस क्षेत्र में पिछली शताब्दी में हुए विकास की गतिविधियों ने यहां की पारिस्थितिकी में बदलाव किया जिसका दुष्प्रभाव यहां के स्थानीय निवासियों पर पड़ा। वनों के कटान व व्यवसायिक दोहन से उत्पन्न हुये परिस्थितिकीय ह्रास ने यहां की अस्तित्ववादी/जीवननिर्वाही कृषि के अस्तित्व पर संकट खड़ा कर दिया । वन विनाश, व्यावसायिक वानिकी, सामरिक महत्व के संचार विकास, बांध व जल विद्युत परियोजनाओं तथा खनन आदि ने बाढ़, भूस्खलन तथा मृदाक्षरण को जन्म दिया जिससे कृषि उत्पादकता प्रभावित हुई । व्यावसायिक वानिकी तथा वनों के वाणिज्यिक दोहन ने स्थानीय जैव–विविधता को क्षति पहुंचायी तथा अनेक उपयोगी वृक्षों की प्रजातियों पर अस्तित्व का संकट पैदा हुआ। अत्यधिक वन कटान तथा बॉज के वृक्षों के स्थान पर चीड़ जैसे व्यावसायिक उपयोग के पेड़ों के रोपण ने इस क्षेत्र में पानी ईंधन व चारे की कमी को उत्पन्न किया।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उत्तराखण्ड आन्दोलन विकास,पारिस्थितिकीय असन्तुलन से उत्पन्न समस्याओं, स्थानीय निवासियों को जल, जंगल जमीन पर उनके पारम्परिक अधिकार से वंचित करने व सामाजिक आर्थिक उपेक्षा तथा शोषण के विरूद्ध जनचेतना का

परिणाम थी । यह आन्दोलन स्थानीय निवासियों के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक विकास पर आत्मनिर्णय के सामूहिक अधिकार की अभिव्यक्ति था ।

संदर्भ ग्रंथ

1 जोशी, एल.डी., *द खस फेमिली ला,* इलाहाबाद, गर्वमेंट प्रेस, 1929, पृ० **28–29**
2 एटकिंसन, *इ टी : द हिमाचल गजेटियर रिप्रिन्ट,* 1973, दिल्ली, कासमो पब्लिशर्स, पृ० **467**
3 पन्त, एस.डी., *द सोशल इकोनामी आफ द हिमालयन,* 1935, लंदन, जार्ज एलन एण्ड अनविन, पृ० **190**
4 पाण्डे, पी.एन., *द ड्रजरी आफ हिल वूमेन,* 1993 नई दिल्ली, इंडस पब्लिकेशन, पृ०–**167**
5 पाठक शेखर, अप्रकाशित शोध प्रबन्ध *उत्तराखण्ड में कुली बेगार प्रथा* (1815–1949), नैनीताल, 1980
6 तिवारी डी.डी, *हिस्टोरिकल एण्ड पालिटिकल नोटस आन कुमाऊं,* लन्दन, रुटलेज पब्लिकेशन, 1923, पृ० **51**
7 गुहा आर.सी. *द अनक्वायट वुडस्,* 1989 , दिल्ली, ओ0यू0पी0, पृ0 **37**
8 स्टेविंग, ई0पी0, *द फारेस्ट ऑफ इण्डिया खण्ड तृतीयलंदन,* बोडले हेड, 1926, पृ० **258**
9 स्मायथिस इ.ए, *इण्डियाज फारेस्ट वेल्थ 1925,* लंदन, हमफ्री मिलफोर्ड, पृ० **84**
10 पाण्डे, बी.डी., *कुमाऊं का इतिहास,* 1990, अल्मोड़ा, अल्मोड़ा बुकडिपो, पृ० **501**
11 गुहा, आर.सी., पूर्वोक्त, पृ० **75–76**
12 कृष्णा, सूमी, *एनवायरमेन्टल पालिटिक्स दिल्ली,* सेज पब्लिकेशन, 1996, पृ० **160**
13 झा, ए०के०, *पोस्ट पार्टम डिप्रेशन,* इण्डियन एक्सप्रेस दिल्ली, दिसम्बर 31, 2000
14 पाण्डे, बी.डी., *व्हाय उत्तराखण्ड,* इन के0एस0 वाल्दिया (सपा), उत्तराखण्ड टूडे अल्मोड़ा, अल्मोड़ा बुक डिपो, पूर्वोक्त, पृ० **3**
15 विष्ट, बी.एस., *उत्तरांचल ग्रामीण समुदाय पिछड़ी जाति एवं जनजातीय परिदृश्य,* अल्मोड़ा, अल्मोड़ा बुक डिपो, 1997, पृ० **4**
16 पाण्डे, बी. डी, पूर्वोक्त, पृ० **3**
17 विष्ट, बी. एस., पूर्वोक्त, पृ० **8**
18 लिकेन वाक अन्तजे, *फारेस्ट इन गढ़वाल एण्ड द कन्सट्रक्शन आफ स्पेस इन जेफरी रोजर (सपां) द सोशल कन्सट्रक्शन आफ इण्डियन फारेस्ट,* 1998, दिल्ली, मनोहर, पृ0 **86** ।
19 *कृष्णा सूमी,* पूर्वोक्त, पृ० **161**
20 कुमार, प्रदीप, *उत्तराखण्ड नौलेज,* सेमिनार 497, जनवरी 2001 पृ० **64**
21 कुमार प्रदीप, पूर्वोक्त, पृ० **66**